

प्रवचन नं. २७७, श्लोक-१३७, बुधवार, आषाढ कृष्ण ९
दिनाङ्क १९-०७-१९७९

समयसार, १३७ कलश है न? इसका—कलश का भावार्थ है। परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा। क्या कहते हैं? जिसे आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य, राग, कर्म, शरीर, बाह्य चीज़ किसी के प्रति भी राग रहता है और मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, वह विपरीत मान्यता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। वास्तव में परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी... स्वद्रव्य के प्रति जिसे अन्तर के आनन्द का प्रेम, दृष्टि हुई, मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी सम्यग्दृष्टि हुई, उसे अपने अतिरिक्त पर के प्रति कहीं राग होता ही नहीं और पर के प्रति राग रहे और वह सम्यग्दृष्टि माने तो यह विपरीत है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

सम्यग्दर्शन और चारित्रदोष यह दूसरी चीज़ है। यहाँ कहते हैं कि चारित्रदोष हुआ, वह अपना माने, वह परवस्तु है। शरीर, वाणी तो परवस्तु है ही, परन्तु अन्दर दया, दान, व्रत के परिणाम आते हैं, वह भी राग है, वह भी वास्तव में तो परवस्तु, परद्रव्य है। उसके प्रति जिसे रुचि रहे, वह सम्यग्दृष्टि नहीं रह सकता। आहाहा! ऐसा मार्ग। यह तो धर्म की पहली शुरुआत, धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन (की बात है)। सम्यक् अर्थात् जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप है, सत्य है, वैसा अनुभव होना और अनुभव होकर दृष्टि में प्रतीति आना, उसे पर के प्रति राग नहीं रहता। आहाहा!

वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे... भले पंच महाव्रत पाले, समिति, निर्दोष आहार, पाँच समिति चुस्त पालन करे, तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से... वह महाव्रत और समिति, वह राग है, वह अपना स्वरूप नहीं है। यह स्व-अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य और महाव्रत तथा समिति का शुभराग, दोनों का भिन्न ज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। स्व-पर का ज्ञान... स्व-पर में यह—आत्मा ज्ञायकस्वरूप स्व और विकल्प जो राग से लेकर पर, वह परद्रव्य और स्व (द्रव्य की) भिन्नता का भान नहीं है, वह सम्यग्ज्ञानी कैसा? आहाहा! भले वह पंच महाव्रत पालन करता हो, समिति

(पालन) करता हो, निर्दोष आहार (ले), उसके लिये चौका बनाकर (आहार) न ले, तो भी वह तो राग है और राग में धर्म मानना और राग में धर्म का कारण मानना, (वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता'... है न? (व्रत-समिति पालन करे) तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। पापी ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! महाव्रत पालन करे, पंच समिति, गुप्ति, अट्टाईस मूलगुण पालन करे, तथापि वह राग मेरी चीज़ है और उसमें मुझे कुछ धर्म का कारण होगा, ऐसी दृष्टि है, वह पापी है। आहाहा! गजब बात है। अट्टाईस मूलगुण पाले, पंच महाव्रत पाले तो भी कहते हैं कि पापी है। आहाहा! और सम्यग्दृष्टि अस्थिरता के रागादि आते हैं और भोग भी लेता है तो भी भोग के भाव की निर्जरा होती है। आहाहा! क्योंकि उसमें रस उड़ गया है। अपने आनन्द के रस में राग और राग के फल में रस उड़ गया है। आहाहा! फीका पड़ गया है। आहाहा! और अज्ञानी को उस महाव्रत के परिणाम में रस पड़ा है। वह धर्म है और वह धर्म का कारण है। महाव्रत पालते-पालते सम्यग्दर्शन होगा, चारित्र होगा (—ऐसा मानता है) तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि नियमसार में एक श्लोक में कहा है—महाव्रत, पंच समिति, गुप्ति, वह आत्मा का स्वरूप है। यह तो निश्चय महाव्रत, आत्मा का ध्यान, उसे कहा है। नियमसार में श्लोक में है। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि भाव, व्रत आदि धर्म, वह आत्मा है, आत्मा का वह धर्म है। यह तो राग से रहित अपने स्वरूप में लीनता को वहाँ महाव्रत कहा है। समझ में आया? आहाहा! और यह महाव्रत तो आत्मा के भान बिना राग की क्रिया करे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य पालन करे (और) वह धर्म का कारण है और धर्म होगा, (ऐसा माननेवाले) मिथ्यादृष्टि हैं। स्व-पर के ज्ञान की भिन्नता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के राज में पड़ा हो, तो भी कहते हैं कि वह पापी नहीं है, वह तो धर्मी मोक्षमार्गी है। हैं? आहाहा! सम्यग्दृष्टि है, चक्रवर्ती के राज में पड़ा है तो भी मोक्षमार्गी है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में (आता) है। और पंच महाव्रत पाले, समिति-गुप्ति पाले परन्तु वह धर्म का कारण है और उसमें प्रेम है तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इतना अधिक अन्तर है। लोगों को बैठना कठिन पड़ता है। यह पापी है। पापी ही है। ऐसा लिखा

है। पापी ही है। ऐसा। पापी ही, पापी ही है। महाव्रत को पाले परन्तु राग का प्रेम है और राग की रुचि है और स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायक है, उसकी दृष्टि का तो अभाव है, वह पापी ही है। आहाहा!

जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है...पंच महाव्रतादि पाले परन्तु मुझे बन्ध नहीं होता और स्वच्छन्द से प्रवृत्ति करता है, वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो... पूर्ण चारित्र-स्वरूप में रमणता जब तक न हो, तब तक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है... सम्यग्दृष्टि को भी राग का बन्ध होता है। जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक उसे राग से बन्ध तो होता ही है।

और जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निन्दा-गर्हा करता ही रहता है। आहाहा! ये शुभराग आता है, अशुभराग भी आता है। समकित्ती को आर्तध्यान, रौद्रध्यान भी आता है। आहाहा! तथापि उसका रस-प्रेम नहीं है। दुःख लगता है। जैसे काला नाग देखे, वैसे राग को देखता है। आहाहा! जहर, शुभभाव को ज्ञानी जहर देखता है। अज्ञानी को मिठास लगती है। उन महाव्रत के परिणाम में मिठास मानता है कि महाव्रत के परिणाम मेरा धर्म है। वह पापी है। आहाहा! इतना सब अन्तर। सम्यग्दृष्टि को राग आता है परन्तु अपनी निन्दा-गर्हा करता है। अरे रे! राग तो दुःख है, पाप है, दोष है, बन्ध का कारण है। मेरे स्वरूप से यह भिन्न जाति है। ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है। आहाहा!

ज्ञान के होनेमात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद... स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का और अतीन्द्रिय शान्ति का सागर प्रभु, उसका जिसे रस और दृष्टि हुई, आहा! तो यह ज्ञान होने के पश्चात् उसी में लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप-चारित्र से बन्ध कट जाते हैं। उसमें फिर शुद्धोपयोगरूप; शुभयोग—शुभ और अशुभ योग अलग बात है और यह शुद्धयोग, शुद्ध व्यापार। कहलाता है योग, परन्तु शुद्धयोग है, वह शुद्ध व्यापार है, शुद्ध उपयोग है; तथा शुभ और अशुभ है, वह आस्रव है, बन्ध का कारण है और शुद्धयोग, आत्मा का व्यापार आत्मा का शुद्ध व्यापार, वह निर्जरा का कारण है। आहाहा! एक शुद्धयोग और एक शुभयोग, दोनों में बड़ा अन्तर है। शुभयोग, वह बन्ध का कारण है और शुद्धयोग, वह

संवर-निर्जरा-धर्म का कारण है। आहाहा! बहुत अन्तर। इसलिए राग होने पर भी,... धर्मी को 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दता प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है। हम समकिति हैं, हमें चाहे जो भाव हो, हम भोग लें, विषय लें, हमारे क्या है? वह तो मिथ्यादृष्टि है, स्वच्छन्दी है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कोई पूछता है कि... प्रश्न है कि व्रत-समिति शुभ कार्य हैं,... पंच महाव्रत, पाँच समिति, शरीर का ब्रह्मचर्य, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पाले, वह तो सब शुभ कार्य है। तब फिर उनका पालन करते हुए भी... उस शुभ का पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है? पुण्यवन्त तो कहो। महाव्रत पाले, नग्नरूप से रहे, अट्टाईस मूलगुण पाले, दुकान, धन्धा-बन्धा छोड़ दे... आहाहा! और जंगल में रहे, नग्नरूप से रहे, पंच महाव्रत बराबर चुस्त निरतिचार पाले। आहाहा! वह तो शुभकार्य है। उसे तुम पापी क्यों कहते हो? आहाहा! शुभकार्य करनेवाला पुण्यवन्त नहीं कहकर तुम पापी कहते हो। अशुभभाव करनेवाले को पापी कहो परन्तु इस शुभभाव के कार्य करनेवाले को पापी क्यों कहा? समझ में आया?

उसका समाधान यह है-सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है;... आहाहा! भगवान की वाणी में, सिद्धान्त में, आगम में, चारों ही अनुयोग में... आहाहा! मिथ्यात्व को ही पाप कहा है। आहाहा! अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक (गया)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो' नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। आहाहा! अनन्त बार महाव्रत लिये... आहाहा! और स्वर्ग में गया परन्तु आत्मज्ञान—राग से भिन्न आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके अनुभव-वेदन बिना यह महाव्रत के परिणाम, वे दुःखरूप हैं। आया या नहीं इसमें? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो' अब वे पंच महाव्रत के परिणाम तो दुःखरूप है। वे तो सुख हैं नहीं। आस्रव है, बन्ध का कारण है, जहर का घड़ा है। आहाहा! आहाहा! उसे पापी क्यों कहा? इस कारण से पापी कहा। सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है।

जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। आहाहा! जब तक मिथ्यात्व रहता है (अर्थात्)

राग के अंश में भी प्रेम रहता है, पर्यायबुद्धि में जो राग आया, महाव्रत का, भगवान की भक्ति का, विनय का, पूजा का, दान का, दया का, अपवास का वह सब राग... आहाहा! उन क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। उन क्रियाओं को परमार्थ से सिद्धान्त में पाप कहने में आया तो वह पाप है। आहाहा! कठिन बात है। चैतन्य भगवान अन्दर ज्ञान का सागर, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु... आहाहा! उसका रस छोड़कर राग महाव्रतादि या भगवान का विनय, भक्ति आदि हो... आहाहा!

यह लोग कहते हैं न यह प्रवचनसार की गाथा? 'पुण्यफला अरहन्ता' पुण्य के फल में अरिहन्त है, उसमें गाथा है। वह तो पुण्य का फल अरिहन्त पद नहीं, पुण्य का फल (अर्थात्) हिलना, चलना, बोलना, वह पुण्य का फल है। तब उसका अर्थ ऐसा करते हैं। 'पुण्यफला अरहन्ता' पुण्य के फलरूप अरिहन्त पद होता है। ऐसा है नहीं। उसमें पाठ है। पुण्य का फल तीर्थकर को अकिंचित्कर है। कुछ करता नहीं। वह तो उदयभाव की क्रिया है। हिलने की, चलने की, बोलने की (क्रिया), वह पुण्य फल है तो वह खिर जाता है। उस उदय को भी क्षायिकभाव कह दिया है। वह उदय होता है, वह खिर जाता है, उसे क्षायिकभाव कहा। आहाहा! परन्तु पुण्य से अरिहन्तपद मिलता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भी राग है। उस राग का नाश करता है, तब वीतराग केवलज्ञान होता है। राग में तीर्थकर की प्रकृति बँधी, इसलिए केवलज्ञान होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थकर (प्रकृति) बँधती है, उस भाव का नाश करता है, तब केवलज्ञान होता है, तब तो उस तीर्थकर प्रकृति का उदय आता है। क्या कहा?

जिस भाव से तीर्थकर प्रकृति बँधी, उस प्रकृति का उदय कब आता है? कि जब उस राग का नाश करके केवलज्ञान होता है, तब उस तीर्थकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है। आहाहा! समझ में आया? यह चौथे, पाँचवें, छठवें में उदय नहीं आता। आहाहा! प्रकृति का बन्ध चौथे, पाँचवें, छठवें में पड़ता है परन्तु उदय आता है तेरहवें (गुणस्थान में)। इसका अर्थ क्या हुआ? कि जिस भाव से तीर्थकर (प्रकृति) बँधी थी, उस भाव का नाश करके (पूर्ण) वीतराग हुआ और जब केवलज्ञान हुआ, तब वह प्रकृति उदय में आयी। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधा, उस भाव से केवलज्ञान नहीं होता। आहाहा! 'पुण्यफला अरहन्ता' ऐसा कहते हैं, है

उसमें, है न ? इसमें है। कितनी ४५ ? प्रवचनसार में है, 'पुण्यफला अरहन्ता' अकिंचित्कर है, ऐसा पाठ है। पुण्य अकिंचित्कर है, आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं करता।

यहाँ तो उस पुण्य के भाव को अपना माननेवाले को पापी कहकर मिथ्यादृष्टि कहा है। आहाहा! है ? जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। इस पुण्य के परिणाम की क्रिया को, मिथ्यादृष्टि को पापी ही कहने में आता है। पाप ही कहा जाता है। आहाहा! एक तो ऐसा माने कि कर्म से विकार होता है। कर्म से शुभभाव हुआ और शुभभाव से मुक्ति होती है तो कर्म से मुक्ति होती है। ऐसा हुआ। क्योंकि शुभभाव कर्म से होता है, ऐसा मानता है, यह बात मिथ्या है, शुभभाव अपने से होता है। पश्चात् शुभभाव से फिर धर्म होता है और उससे मुक्ति होती है, तो इसका अर्थ कि कर्म से शुभभाव हुआ और शुभभाव से मुक्ति हुई तो कर्म से मुक्ति हुई। आहाहा! ऐसा है नहीं। यहाँ तो पापी ही कहा, पाप ही कहा है। मिथ्यादृष्टि के महाव्रत के परिणाम को पाप ही कहा है। आहाहा! परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।

और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। अशुभ छुड़ाकर शुभभाव को कथंचित् पुण्य (कहा जाता है), धर्म नहीं। आहाहा! ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है। आहाहा! अपेक्षा से समझना। धर्मी का राग बन्ध का कारण नहीं है। मिथ्यादृष्टि का राग, महाव्रत पाप है। इन दो में अपेक्षा समझना चाहिए। ज्ञानी का राग निर्जरा का (हेतु) है, ज्ञानी का भोग निर्जरा का (हेतु) होवे तो फिर भोग छोड़कर चारित्र लेना कहाँ रहा ? यह तो दृष्टि का जोर बताने को भगवान आत्मा ज्ञायकभाव का जहाँ अनुभव हुआ कि मैं तो ज्ञायक चिदानन्द अनादि हूँ। आहाहा! सतत्, कहा था न रात्रि में ? भाई! सतत् अर्थात् निरन्तर वर्तमान ही मैं तो हूँ। त्रिकाल रहेगा, इसलिए ऐसा नहीं। मैं तो वर्तमान सत् ध्रुव ही हूँ। ज्ञानी को भी जितना राग आता है, उतना बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया ? जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग होता है, वह बन्ध का कारण, दुःख का कारण है। आहाहा! भोग के कारण से निर्जरा होती है, (ऐसा कहा) वह तो दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। आहाहा!

जहाँ तक स्वरूप की दृष्टि होकर चिदानन्द भगवान आत्मा अपने में लीनतारूप,

लीनतारूप व्रत, हों! लीनतारूप। वह पूर्ण लीनता न करे, तब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक राग का अंश रहता है, वह बन्ध का कारण है। ज्ञानी को भी बन्ध का कारण है। आहाहा! अज्ञानी के तो महाव्रत को ही पाप कहा है। आहाहा! और ज्ञानी का भोग निर्जरा हेतु कहा। कहाँ पूर्व-पश्चिम का (अन्तर है)। अपेक्षा से कहा है। भोग निर्जरा का हेतु होवे तो भोग छोड़कर चारित्र लेना, वह तो रहता नहीं।

परन्तु दृष्टि में आत्मा के आनन्द का रस है तो उस भोग का राग आया, वह काले नाग जैसा देखता है। काला सर्प, नाग देखे, वैसे भोग का राग देखता है। आहाहा! ज्ञानी को उसका प्रेम उड़ गया है, सुखबुद्धि उड़ गयी है। विषय में सुख है, मजा है, यह बात अन्तर में से निकल गयी है। आहाहा! क्योंकि अपने आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द के अनुभव के समक्ष किसी चीज़ में आनन्द है, यह मान्यता उड़ गयी है। आहाहा! चक्रवर्ती का राज हो, इन्द्र का इन्द्रासन हो, वह सब पुण्य का फल है परन्तु यह जहर है। आहाहा!

फिर कोई पूछता है कि - परद्रव्य में जब तक राग रहे, तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझ में नहीं आयी। ऐसा प्रश्न करता है। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं,... सम्यग्दृष्टि को, क्षायिक समकिति को भी राग तो आता है। आहाहा! जब तक स्वरूप में चारित्र की पूर्ण लीनता न हो, तब तक ज्ञानी को राग तो आता है। है न? अविरतसम्यग्दृष्टि... (अर्थात्) चौथे, पाँचवें, छठवें, चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है? तुम तो कहते हो, राग होवे तो समकित नहीं है।

उसका समाधान यह है - यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। देखो! यहाँ तो राग का प्रेम है, राग की रुचि है, ऐसा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी—अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ रहनेवाला, अनन्तानुबन्धी कषाय अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व, जिस मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली कषाय, उसकी अपेक्षा से यहाँ राग कहा है। वह राग ज्ञानी को है नहीं। समझ में आया? आहाहा! प्रधानरूप से उसकी मुख्यरूप से बात कही है।

जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में... आहाहा! शरीर में, वाणी में, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार में अथवा यह स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा

है, लक्ष्मी मेरी है। आहाहा! यह राग मेरा है, ऐसी आत्मबुद्धि होती है। आहाहा! प्रतिकूल संयोग देखकर द्वेष होता है तो संयोगी चीज है, वह तो ज्ञेय है। संयोगी चीज कोई दुःख का कारण नहीं है। संयोगी कोई भी चीज। सर्प का जहर और बिच्छु का डंक, वह तो ज्ञेय है। ज्ञेय में दो भाग नहीं कि यह अनुकूल और यह प्रतिकूल, ऐसे ज्ञेय में दो भाग नहीं है। ज्ञेय तो एक प्रकार का है, उसमें अज्ञानी ने दो भाग डाल दिये हैं कि यह ठीक है और यह अठीक है। यह राग और द्वेष किये, यही मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई!

जिससे भव का अन्त आवे। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव किये, चौरासी लाख योनि में, नरक और निगोद में (भटका)। निगोद में एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव, ऐसे (भव) अनन्त बार किये। निगोद में भी अनन्त बार एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव (किये), ऐसा एक बार नहीं, अनन्त बार किया। आहाहा! प्रभु! तेरे दुःख की व्याख्या भगवान भी पूरी नहीं कह सकते। आहाहा! कैसे दुःख भोगे हैं, एक सम्यग्दर्शन के बिना (भोगे हैं)। बाकी तो पंच महाव्रतादि क्रियाएँ बहुत कीं। राग के प्रेम से, वह तो परद्रव्य का प्रेम है। आहाहा!

जब तक आत्म-बुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है... राग पर है और भगवान आनन्दकन्द भिन्न है, ऐसा स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान नहीं है। आहाहा! चाहे तो महाव्रत के परिणाम हो, परन्तु वह राग ही है और आत्मा राग नहीं है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है। नवतत्त्व है या नहीं? तो नवतत्त्व में पुण्यपरिणाम भिन्न है, पाप भिन्न है और ज्ञायक जीवतत्त्व भिन्न है। नौ हैं। नवतत्त्व में ज्ञायकतत्त्व है, वह राग नहीं है और रागतत्त्व है, वह ज्ञायकतत्त्व नहीं है। (ऐसा न होवे तो) नवतत्त्व कहाँ से होंगे? आहाहा! समझ में आया? तो यह पुण्यतत्त्व है, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! और आत्मा जो ज्ञायकस्वरूप है, वह पुण्यतत्त्व नहीं है। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना राग करके धर्म मानता है, वह स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात है।

स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है-भेदज्ञान नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। राग के कण से अपनापन मानना, उसे स्व-पर का भेदज्ञान है नहीं। छोटे में छोटा राग का कण, जिससे महाव्रत पाले, जिससे तीर्थकरगोत्र बँधे, वह तो समकित्ती को होता है परन्तु महाव्रतादि पाले, वह तो राग, छोटे में छोटा सूक्ष्म राग, आहाहा! उसे अपना माने, उसे स्व-

पर का भेदज्ञान नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञायक है और महाव्रत के परिणाम राग हैं, उस स्व और पर की भिन्नता का विवेक है नहीं। आहाहा! यह तो बहुत स्थूल बात चलती है। इसमें बहुत गड़बड़ हो गयी है। आहाहा!

जो जीव मुनिपद लेकर व्रत, समिति का पालन करे... आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' मुनि कौन? दिगम्बर मुनि। श्वेताम्बर मुनि को तो शास्त्र मुनि मानता ही नहीं। जो वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। उनके शास्त्र में भी वस्त्र रखकर मुनिपना मनवाया है। वे शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के कहे हुए हैं। आहाहा! ऐसी बात है। ऐई! श्वेताम्बर शास्त्र में मुनि को इतने वस्त्र लेना और इतने चलते हैं, उसे धोना... सब कल्पना। मिथ्यादृष्टि ने शास्त्र बनाये हैं। यह बात कहीं रह गयी। यहाँ तो दिगम्बर धर्म में आया और पंच महाव्रत पालता है, तो पंच महाव्रत है, वह तो राग है और आत्मा तो भिन्न ज्ञायक है। तो दोनों का भेदज्ञान नहीं, तो वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन काम है। है?

(जीव) मुनिपद लेकर व्रत, समिति का पालन करे, तथापि जब तक पर जीवों की रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से... देखा? पर जीवों की रक्षा में धर्म मानना, पर जीव की रक्षा मैं कर सकता हूँ, ऐसा मानना, वहाँ तक मिथ्यादृष्टि है। पर जीव की रक्षा कर सकता हूँ तो वह तो परद्रव्य है। उसकी पर्याय तो उससे होती है। उसका आयुष्य है और उसकी योग्यता, शरीर में रहने की योग्यता है, तब तक रहता है। आयुष्य से रहता है, वह भी निमित्त से (कथन) है। शरीर में रहने की अपनी योग्यता के कारण वहाँ तक रहता है। शरीर में रहने की योग्यता छूट गयी तो देह छूट जाती है। आहाहा! आयुष्य के कारण रहता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। बाकी तो अपनी योग्यता ही तब तक रहने की है। आहाहा! तो उसकी दया पालूँ, उसकी रक्षा करूँ। उसकी योग्यता है, तब तक तो रहता है, तू कहाँ रक्षा कर सकता है? समझ में आया? किसी जीव की रक्षा करूँ।

शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना... देखकर चलना, पैर में (कोई जीव) नीचे न आ जाए, ऐसे पैर रखना, (ऐसी) शरीर की प्रवृत्ति करना। इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से... आहाहा! और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से...

देखो! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, शुभभाव है। (उससे) अपनी मुक्ति मानता है... उसमें अपना धर्म मानता है। आहाहा! यह तो पण्डितजी ने स्पष्टीकरण किया है। पण्डित जयचन्दजी (ने)। आहाहा!

और पर जीवों का घात होना... पहले रक्षा की बात की थी। परद्रव्य की क्रिया है, उसे अपनी मानता है, वह मिथ्यात्व है। और पर जीवों का घात होना... वह तो उसके कारण से होता है। अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभभावों से ही अपना बन्ध होना मानता है... आहाहा! उससे अपने को बन्ध मानता है, अशुभ से बन्ध मानता है और शुभ से धर्म मानता है। आहाहा! दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभ और अशुभभाव दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं हुआ;... शुभ से बन्ध होता है। उसे अपना मानता है और अशुभ से भी बन्ध होता है और अशुभ से ही बन्ध मानता है और शुभ से नहीं, तो उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

करुणा करना, वह मिथ्यात्वभाव है—ऐसा पाठ है। कुन्दकुन्दाचार्य का श्लोक है। पर तिर्यच और मनुष्य दुःखी होते हैं तो अररर! वे दुःखी हैं, ऐसी ममता करके, मेरे हैं और मुझे दुःख होता है। उन्हें दुःख होता है, ऐसी करुणा करना, पर की ममता करके करुणा करना, वह मिथ्यात्व का लक्षण है। आहाहा! प्रवचनसार ८५ गाथा में है। समझ में आया? यह तो समयसार है। आहाहा! बहुत अन्तर, बहुत अन्तर। जन्म, जरा, मरणरहित होना, बापू! एक ज्ञायकस्वरूप प्रभु... आहाहा! उससे जो शुभ-अशुभभाव दोनों बन्ध का कारण है, तथापि एक भाव से रक्षा करूँ, उससे मुझे कल्याण होगा और पर को माँरूँ, ऐसा अशुभभाव बन्ध का कारण है। दोनों बन्ध के कारण हैं (उसमें) एक को बन्ध का कारण मानना और एक को बन्ध का कारण नहीं मानना, (यह) मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुकम्पा, उसे क्या समझना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुकम्पा क्या है? अपने राग की मन्दता होना। निश्चय से अनुकम्पा तो वीतरागी परिणति है, वह अनुकम्पा है। भगवान को करुणावन्त कहा है। षट्खण्डागम में करुणावन्त कहा है। वह करुणा अकषाय है, वीतरागी करुणा है, राग

नहीं। षट्खण्डागम में है। प्रभु को करुणावन्त कहा है, दयावन्त कहा है। १००८ नाम है न? भगवान के १००८ नाम हैं। बनारसीदास का है। उसमें कहा है, प्रभु कृपावन्त है, करुणावन्त है, दयावन्त है—ऐसा कहा है। १००८ नाम हैं, उनमें (ऐसे) नाम आये हैं। वह तो वीतरागी पर्याय के नाम हैं। दयावन्त और करुणा का राग है, वह है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान का तो सन्देश है कि जीओ और जीने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात वीतराग की है ही नहीं।

मुमुक्षु : सब लोग कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अंग्रेजी की बात है। जीओ और जीने दो, यह वीतराग की बात ही नहीं है। अंग्रेज की बात है। आयुष्य से जीवे? यह तो अभी वह विरोध करते हैं न? सोनगढ़वाले 'जीओ और जीने दो' का विरोध करते हैं। परन्तु यह वाणी वीतराग की है ही नहीं। आयुष्य से जीवे और आयुष्य से जीने दो, यह बात वीतराग की है नहीं। वीतराग की तो जीवत्वशक्ति है, पहली। ४७ शक्तियाँ हैं, हैं? जीवत्वशक्ति से जीना। आहाहा! जीवत्व में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता से जीना, वह जीव का जीवन है। वह जीव का जीना है। इस आयुष्य से, शरीर से जीना, वह कहीं आत्मा का है नहीं। आहाहा! कहते हैं। लोग दिगम्बर में बोलते हैं, रथ निकलता है न? 'जीओ और जीने दो, महावीर का सन्देश, जीओ और जीने दो' क्यों माणिकचन्द्रभाई! सुना है या नहीं? रथयात्रा में निकलते हैं न? (तब बोलते हैं) 'महावीर का सन्देश, जीओ (और) जीने दो' यह बात ही मिथ्या है। ऐई! कौन जीवे और कौन जीने दे? जीवे तो वह। अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, और सत्ता से जीना, वह जीवन है। वह अपना जीवन है और पर का जीवन भी वह है।

४७ शक्तियाँ हैं न? (उसमें) पहली शक्ति, पहला गुण ही यह लिया है। क्यों?— कि समयसार की दूसरी गाथा में ऐसा चला कि, 'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।' वह जीवत्व है। दूसरी गाथा। पहली 'वंदित्त सव्वसिद्धे' (दूसरी में ऐसा कहा), 'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।' आहाहा! 'पोग्गलकम्मपदेसट्टिदं च तं जाण परसमयं।' राग में स्थित है, वह मिथ्यादृष्टि परसमय है और आत्मा में स्थित है, वह स्वसमय है। वह जीव का जीवन है। 'जीवो

चरित्तदंसणणाणठिदो' उस गाथा में से जीवत्वशक्ति निकाली है। अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ शक्तियों में जो पहली जीवत्वशक्ति कही, वह दूसरी गाथा का पहला शब्द 'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो' वहाँ से निकाली है। वहाँ से पहली जीवत्वशक्ति निकाली है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी कोई अलग प्रकार है। वह कहीं दुनिया में है नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर के पन्थ में नहीं है न! जैन नाम धरते हैं, उसमें यह है नहीं। उसमें भी कर्म से विकार होता है और विकार, शुभभाव से धर्म होता है, (ऐसा मानते हैं)। आहाहा! यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का यह हुकम, आज्ञा यह है, यह दिव्यध्वनि है। प्रवचनसार! आहाहा!

अज्ञानी जीवरक्षा आदि में शुभ बन्ध नहीं मानता और अशुभ को बन्ध मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। दोनों बन्ध के कारण हैं। महाव्रत के परिणाम, वह बन्ध का कारण, अव्रत के परिणाम, वह बन्ध का कारण। आहाहा! अपना बन्ध होना मानता है तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्वपर का ज्ञान नहीं हुआ;... शुभ से बन्ध नहीं मानता और अशुभ से भी (बन्ध) मानता है तो उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात!

क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था,... बन्ध और मोक्ष। बन्ध अपने अशुद्धभाव से (होता है)। अशुद्ध अर्थात् शुभाशुभभाव। शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध हैं। महाव्रत और अव्रत के परिणाम, दोनों अशुद्ध हैं। आहाहा! तो अशुद्ध भाव से बन्ध होता है और शुद्ध भाव से मुक्ति होती है। उस शुभभाव से नहीं, शुद्ध भाव से। आहाहा! अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे... चाहे तो महाव्रत के परिणाम, भगवान की विनय के परिणाम, भक्ति के, पूजा के, दान के, दया के, मन्दिर बनाना और पूजा, भक्ति कराना, वे सब भाव शुभभाव हैं। आते हैं, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! कठिन काम है। यह तो अपने लिये बात है। दुनिया माने, न माने और उसे कहीं सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है। अधिक माने तो सत् कहलाये और थोड़े माने तो सत् न कहलाये, ऐसा तो है नहीं। सत् तो सत् ही है। भले एक ही सत् को माने तो भी सत् ही है। आहाहा!

क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था,... उसमें

तो आया था न? रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है... यह अन्दर आया था। बन्ध-मोक्ष तो अपने परिणाम से होते हैं। शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण... है। चाहे तो महाव्रत हो और चाहे तो समिति, गुप्ति आदि हो, व्यवहार। आहाहा! शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालना, वह भी शुभभाव है, वह शुद्ध नहीं। ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म अर्थात् आनन्द अर्थात् प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप में चर्य अर्थात् रमना। अन्तर आनन्द में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। आहाहा! शुभभाव भी अब्रह्म है, ब्रह्मचर्य नहीं। शुभभाव भी राग है, अनाचार है। आहाहा! स्वभाव का शुद्ध उपयोग, वही आचार है। आहाहा! नियमसार में कहा है—आचार, अनाचार। आहाहा!

शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था,... परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। उससे कोई बन्ध-मोक्ष होता है, (ऐसा नहीं है)। परद्रव्य की पर्याय और स्वद्रव्य की पर्याय के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा! इस शरीर की पर्याय होती है और आत्मा की (होती है), इन दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में एक पर्याय दूसरी को करे, ऐसा कहाँ से आया? आहाहा! प्रत्येक क्षण में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय और परद्रव्य के बीच में प्रतिक्षण अत्यन्त अभाव है। आहाहा! तो प्रतिक्षण में परद्रव्य की पर्याय परद्रव्य में कुछ करे, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! शुभाशुभभाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। परद्रव्य से शुभभाव हुआ, वह मोक्ष का कारण है; अशुभ, वह बन्धन का कारण है—ऐसा माना। आहाहा! तो उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया।

इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला-बुरा मानकर... आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र से मुझमें लाभ होगा। वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य पर लक्ष्य जाएगा तो शुभभाव ही होगा। मोक्षपाहुड़ में तो कुन्दकुन्दाचार्य ने वहाँ तक कहा है, 'परदव्वादो दुग्ई' भगवान ऐसा कहते हैं कि, मेरे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे दुर्गति होगी। दुर्गति का अर्थ (यह कि) तेरी चैतन्य की गति नहीं होगी। चार गतियों में से गति मिलेगी, तो चारों गति तो दुर्गति है। आहाहा! मोक्षपाहुड़ की सोलहवीं गाथा। 'परदव्वादो दुग्ई' तीर्थकर ऐसा कहते हैं। आहाहा! हम तुझसे परद्रव्य हैं। हमारे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे राग ही होगा,

चैतन्य की गति नहीं होगी। आहाहा! यह तो दिगम्बर सन्त दुनिया की परवाह किये बिना कहते हैं। दुनिया माने, न माने (स्वतन्त्र है)। आहाहा! 'परदव्वादो दुग्गई' 'सदव्वादो सुग्गई' ऐसा पाठ है। मोक्षपाहुड़, १६वीं गाथा। 'सदव्वा' स्वद्रव्य का आश्रय लेकर जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपने आश्रय से होते हैं, वह मोक्ष का कारण है। जितना परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, वे सब शुभ-अशुभभाव दुर्गति है। दुर्गति अर्थात् तेरी चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! लोगों को कठिन पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं, हमें मानना और हमारे ऊपर तेरा लक्ष्य जाना, वह तेरी दुर्गति, राग है; तेरी चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों को जगत की कहाँ पड़ी है? वे तो सत्य को प्रसिद्ध करना, ऐसा विकल्प आया, हो गया। आहाहा! विकल्प के भी कर्ता नहीं और टीका के भी कर्ता नहीं। आहाहा!

इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। परद्रव्य भला-बुरा (नहीं)। परद्रव्य तो ज्ञेय है। चाहे तो तीर्थकर हो तो भी इस ज्ञायक का ज्ञेय है और सिर को काटनेवाला हो तो भी इस ज्ञायक का वह ज्ञेय है। वह द्वेषी है, वह शत्रु है और यह मित्र है, ऐसी कोई चीज़ ज्ञेय में नहीं है। ज्ञेय में तो ज्ञान करने का स्वभाव, प्रमेय स्वभाव है। अतः ज्ञान में प्रमेय का ज्ञान होता है। प्रमेय है, परन्तु प्रमेय में दो भाग करना कि यह मुझे दुःखदायक है, यह मुझे सुखदायक है, यह तो भ्रम, मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? (भला-बुरा) मानकर राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)